जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म का पारस्परिक प्रभाव

भारतीय संस्कृति एक समन्वित संस्कृति है। इसकी संरचना में वैदिकधारा और श्रमणधारा का महत्त्वपूर्ण अवदान है। वैदिकधारा मूलतः प्रवृत्तिप्रधान और श्रमणधारा निवृत्तिप्रधान रही है। वैदिकधारा का प्रतिनिधित्व वर्तमान में हिन्दूधर्म करता है जबकि श्रमणधारा का प्रतिनिधित्व जैन और बौद्ध धर्म करते हैं। किन्तु यह समझना भ्रान्तिपूर्ण होगा कि वर्तमान हिन्दूधर्म अपने शुद्ध रूप में मात्र वैदिक परम्परा का अनुयायी है। आज उसने श्रमणधारा के अनेक तत्त्वों को अपने में समाविष्ट कर लिया है। अतः वर्तमान हिन्दूधर्म वैदिकधारा और श्रमणधारा का एक समन्वित रूप है और उसमें इन दोनों परम्पराओं के तत्त्व सन्निहित हैं। इसी प्रकार यह कहना भी उचित नहीं होगा कि जैनधर्म और बौद्धधर्म मूलतः श्रमण-परम्परा के धर्म होते हुए भी वैदिकधारा या हिन्दूधर्म से पूर्णतः अप्रभावित रहे हैं। इन दोनों धर्मों ने भी वैदिकधारा के विकसित धर्म से कालक्रम में बहुत कुछ ग्रहण किया है।

यह सत्य है कि हिन्दूधर्म प्रवृत्तिप्रधान रहा है। उसमें भी यज्ञ-याग और कर्मकाण्ड की प्रधानता है, फिर भी उसमें संन्यास, मोक्ष और वैराग्य का अभाव नहीं है। अध्यात्म, संन्यास और वैराग्य के तत्त्वों को उसने श्रमण-परम्परा से न केवल ग्रहण किया है अपितु उन्हें आत्मसात भी कर लिया है। यद्यपि वेदकाल के प्रारम्भ में ये तत्त्व उसमें पूर्णतः अनुपस्थित थे किन्तु औपनिषदिक काल में उसमें श्रमण-परम्परा के इन अनेक तत्त्वों को मान्यता प्राप्त हो चुकी थी। ईशावास्योपनिषद् सर्वप्रथम वैदिकधारा और श्रमणधारा के समन्वय का प्रयास है। आज हिन्दूधर्म में संन्यास, वैराग्य, तप-त्याग, ध्यान और मोक्ष की अवधारणाएँ विकसित हुई हैं। वे सभी इस तथ्य का प्रमाण हैं कि वर्तमान हिन्दूधर्म ने भारत की श्रमणधारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। उपनिषद् वैदिक और श्रमणधारा के समन्वयस्थल हैं — उनमें वैदिक हिन्दू एक नया स्वरूप लेता प्रतीत होता है।

इसी प्रकार श्रमणधारा ने भी चाहे-अनचाहे वैदिकधारा से बहुत कुछ ग्रहण किया है। श्रमणधारा में कर्मकाण्ड और पूजा-पद्धति तो वैदिकधारा से आयी ही है, अपितु अनेक हिन्दू देवी-देवता भी श्रमण-परम्परा में मान्य कर लिये गए

हैं। भारतीय संस्कृति की ये विभिन्न धाराएँ किस रूप में एक-दूसरे से समन्वित हुई हैं, इसकी चर्चा करने के पूर्व हमें यह देखना होगा कि इन दोनों धाराओं का स्वतन्त्र विकास किन मनोवैज्ञानिक और पारिस्थितिक कारणों से हुआ है, तथा क्यों और कैसे इनका परस्पर समन्वय हुआ ?

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का उद्भव

मानव-अस्तित्व द्वि-आयामी एवं विरोधाभास पूर्ण है। यह स्वभावतः परस्पर विरोधी दो भिन्न केन्द्रों पर स्थित है। वह न केवल शरीर है और न केवल चेतना, अपितु दोनों की एक विलक्षण एकता है। यही कारण है कि उसे दो भिन्न स्तरों पर जीवन जीना होता है। शारीरिक स्तर पर वह वासनाओं से चालित है और वहाँ उन पर यान्त्रिक नियमों का आधिपत्य है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह विवेक से शासित है, यहाँ उसमें संकल्प-स्वातन्त्र्य है। शारीरिक स्तर पर वह बद्ध है, परतन्त्र है किन्तु चैतसिक स्तर पर वह स्वतन्त्र है, मुक्त है। मनोविज्ञान की भाषा में जहाँ एक ओर वह वासनात्मक अहं (Id) से अनुशासित है तो दूसरी ओर आदर्शात्मा (Super Ego) से प्रभावित भी है। वासनात्मक अहं उसकी शारीरिक माँगों की अभिव्यक्ति का प्रयास है तो आदर्शात्मा उसका आध्यात्मिक स्वभाव है, उसका निज स्वरूप है। जो निर्द्वन्द्व एवं निराकुल चैतसिक समत्व की अपेक्षा करता है। उसके लिये इन दोनों में से किसी की भी पूर्ण उपेक्षा असम्भव है। उसके जीवन की सफलता इनके बीच के सन्तुलन बनाने में निहित है। उसके वर्तमान अस्तित्व के ये दो छोर हैं। उसकी जीवन-धारा इन दोनों का स्पर्श करते हुए इनके बीच बहती है।

प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों का मनोवैज्ञानिक कारण

मानव-जीवन में शारीरिक विकास वासना को और चैतसिक विकास विवेक को जन्म देता है। प्रदीप्त-वासना अपनी सन्तुष्टि के लिये 'भोग' की अपेक्षा रखती है तो विशुद्ध-विवेक अपने अस्तित्व के लिये 'संयम' या विराग की अपेक्षा करता है। क्योंकि सराग-विवेक सही निर्णय देने में अक्षम होता है। वासना भोगों पर जीती है और विवेक विराग पर। यहीं दो अलग-अलग जीवनदृष्टियों का निर्माण होता है। एक का आधार वासना और भोग होते हैं तो दूसरी का आधार विवेक और विराग। श्रमण-परम्परा में इनमें से पहली को मिथ्या-दृष्टि और दूसरी को सम्यक्-दृष्टि के नाम से अभिहित किया गया है। उपनिषद् में इन्हें क्रमशः प्रेय और श्रेय कहा गया है। कठोपनिषद् में ऋषि कहता है कि प्रेय और श्रेय दोनों ही मनुष्य के सामने उपस्थित होते हैं। उसमें से मन्द-बुद्धि शारीरिक योग-क्षेम अर्थात् प्रेय को और विवेकी पुरुष श्रेय को चुनता है। वासना की तुष्टि के लिये भोग और

भोगों के साधनों की उपलब्धि के लिये कर्म अपेक्षित है। इसी भोगप्रधान जीवन-दृष्टि से कर्म-निष्ठा का विकास हुआ है। दूसरी ओर विवेक के लिये विराग (संयम) और विराग के लिये आध्यात्मिक मूल्य-बोध (शरीर के ऊपर आत्मा की प्रधानता का बोध) अपेक्षित है। इसी आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि से तप-मार्ग का विकास हुआ।

इनमें पहली धारा से प्रवर्तक धर्म का और दूसरी से निवर्तक धर्म का उद्भव हुआ। प्रवर्तक धर्म का लक्ष्य भोग ही रहा, अत: उसने अपनी साधना का लक्ष्य-सुविधाओं की उपलब्धि को ही बनाया। जहाँ ऐहिक जीवन में उसने धन-धान्य, पुत्र, सम्पत्ति आदि की कामना की, वहीं पारलौकिक जीवन में स्वर्ग (भौतिक सुख-सुविधाओं की उच्चतम अवस्था) की प्राप्ति को ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य घोषित किया। पुन: आनुभविक जीवन में जब मनुष्य ने यह देखा कि अलौकिक एवं प्राकृतिक शक्तियाँ उसके सुख-सुविधाओं की उपलब्धि के प्रयासों को सफल या विफल बना सकती हैं एवं उसकी सुख-सुविधाएँ उसके अपने पुरुषार्थ पर नहीं, अपितु इन शक्तियों की कृपा पर निर्भर हैं, तो वह इन्हें प्रसन्न करने के लिये एक ओर इनकी स्तुति और प्रार्थना करने लगा तो दूसरी ओर उन्हें बलि और यज्ञों के माध्यम से सन्तुष्ट करने लगा। इस प्रकार प्रवर्तक धर्म में दो शाखाओं का विकास हुआ — १. श्रद्धाप्रधान भक्ति-मार्ग और २. यज्ञ-याग प्रधान कर्म-मार्ग।

दूसरी ओर निष्पाप और स्वतन्त्र जीवन जीने की उमंग में निवर्तक धर्म ने निर्वाण या मोक्ष अर्थात् वासनाओं एवं लौकिक एषणाओं से पूर्ण मुक्ति को मानव-जीवन का लक्ष्य माना और इस हेतु ज्ञान और विराग को प्रधानता दी, किन्तु ज्ञान और विराग का यह जीवन सामाजिक एवं पारिवारिक व्यस्तताओं के मध्य सम्भव नहीं था। अत: निवर्तक धर्म मानव को जीवन के कर्म-क्षेत्र से कहीं दूर निर्जन वनखण्डों और गिरि-कन्दराओं में ले गया। उसमें जहाँ एक ओर दैहिक मूल्यों एवं वासनाओं के निषेध पर बल दिया गया, जिससे वैराग्यमूलक तप-मार्ग का विकास हुआ वहीं दूसरी ओर उस ऐकान्तिक जीवन में चिन्तन और विमर्श के द्वार खुले, जिज्ञासा का विकास हुआ, जिससे चिन्तनप्रधान ज्ञान-मार्ग का उद्भव हुआ। इस प्रकार निवर्तक धर्म भी दो शाखाओं में विभक्त हो गया — १. ज्ञान-मार्ग और २. तप-मार्ग।

मानव प्रकृति के दैहिक और चैतसिक पक्षों के आधार पर प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों के विकास की इस प्रक्रिया को निम्न सारिणी के माध्यम से अधिक स्पष्ट किया जा सकता है —

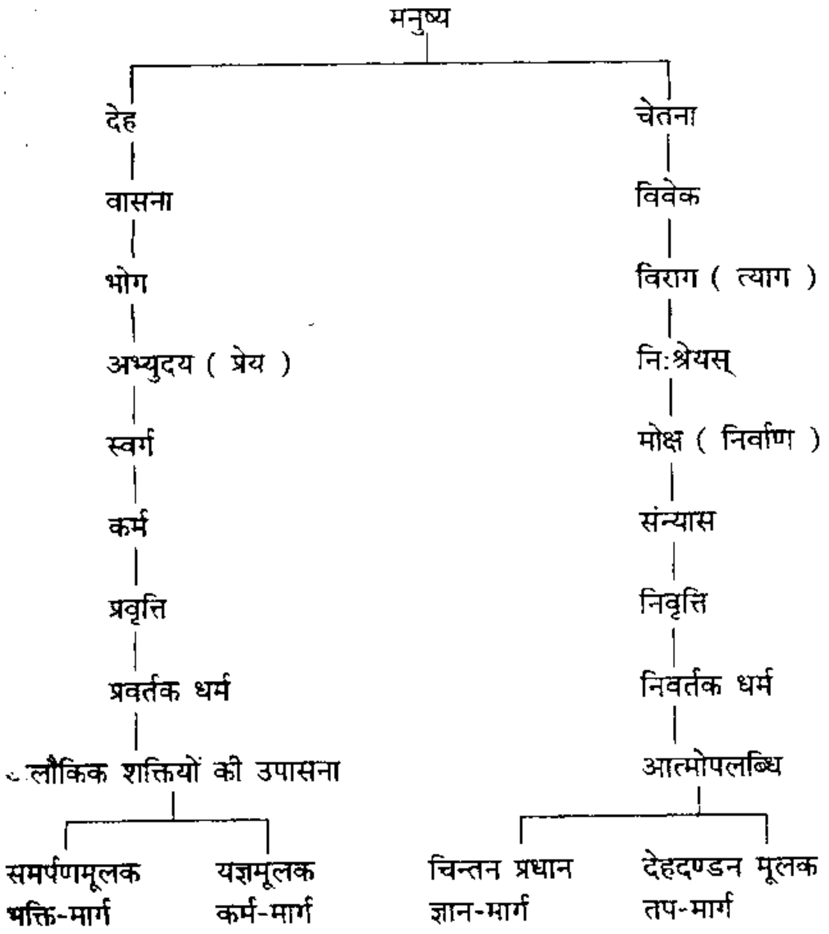
मनुष्य
देह
वासना
भोग
अभ्युदय (प्रेय)
स्वर्ग
कर्म
प्रवृत्ति
प्रवर्तक धर्म
लौकिक शक्तियों की उपासना
समर्पणमूलक भक्ति-मार्ग
यज्ञमूलक कर्म-मार्ग
चेतना
विवेक
विराग (त्याग)
निःश्रेयस्
मोक्ष (निर्वाण)
संन्यास
निवृत्ति
निवर्तक धर्म
आत्मोपलब्धि
चिन्तन प्रधान ज्ञान-मार्ग
देहदण्डन मूलक तप-मार्ग

निवर्तक एवं प्रवर्तक धर्मों के दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय

प्रवर्तक और निवर्तक धर्मों का यह विकास भिन्न-भिन्न मनोवैज्ञानिक आधारों पर हुआ था, अतः यह स्वाभाविक था कि उनके दार्शनिक एवं सांस्कृतिक प्रदेय भिन्न-भिन्न हों। प्रवर्तक एवं निवर्तक धर्मों के इन प्रदेयों और उनके आधार पर उनमें रही हुई पारस्परिक भिन्नता को अगली सारणी से स्पष्टतया समझा जा सकता है —

प्रवर्तक धर्म	निवर्तक धर्म
दार्शनिक प्रदेय	
१. जैविक मूल्यों की प्रधानता	१. आध्यात्मिक मूल्यों की प्रधानता।
२. विधायक जीवन दृष्टि	२. निषेधक जीवन-दृष्टि।
३. समष्टिवादी	३. व्यष्टिवादी।
४. व्यवहार में कर्म पर बल फिर भी भाग्यवाद एवं नियतिवाद का समर्थन	४. व्यवहार में नैष्कर्म्यता का समर्थन फिर भी दृष्टि पुरुषार्थपरक।
५. ईश्वरवादी	५. अनीश्वरवादी।
६. ईश्वरीय कृपा पर विश्वास	६. वैयक्तिक प्रयासों पर विश्वास, कर्मसिद्धान्त का समर्थन।
७. साधना के बाह्य साधनों पर बल	७. आन्तरिक विशुद्धता पर बल।
८. जीवन का लक्ष्य स्वर्ग/ईश्वर के सान्निध्य की प्राप्ति	८. जीवन का मोक्ष/एवं निर्वाण की प्राप्ति।
सांस्कृतिक प्रदेय	
९. वर्ण व्यवस्था और जातिवाद का जन्मना आधार पर समर्थन	९. जातिवाद का विरोध, वर्ण-व्यवस्था का केवल कर्मणा आधार पर समर्थन।
१०. गृहस्थ-जीवन की प्रधानता	१०. संन्यास जीवन की प्रधानता।
११. सामाजिक जीवन शैली।	११. एकाकी जीवन शैली।
१२. राजतन्त्र का समर्थन	१२. जनतन्त्र का समर्थन।
१३. शक्तिशाली की पूजा	१३. सदाचारी की पूजा।
१४. विधि-विधानों एवं कर्मकाण्डों की प्रधानता	१४. ध्यान और तप की प्रधानता।
१५. ब्राह्मण-संस्था (पुरोहित-वर्ग) का विकास	१५. श्रमण-संस्था का विकास।
१६. उपासना-मूलक	१६. समाधि-मूलक।

प्रवर्तक धर्म में प्रारम्भ में जैविक मूल्यों की प्रधानता रही, वेदों में जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति से सम्बन्धित प्रार्थनाओं के स्वर अधिक मुखर हुए हैं। उदाहरणार्थ — हम सौ वर्ष जीवें, हमारी सन्तान बलिष्ठ होवें, हमारी गायें अधिक दूध देवें, वनस्पति प्रचुर मात्रा में हो आदि। इसके विपरीत निवर्तक धर्म

ने जैविक मूल्यों के प्रति एक निषेधात्मक रुख अपनाया, उन्होंने सांसारिक जीवन की दु:खमयता का राग अलापा। उनकी दृष्टि में शरीर आत्मा का बन्धन है और संसार दु:खों का सागर। उन्होंने संसार और शरीर दोनों से ही मुक्ति को जीवन-लक्ष्य माना। उनकी दृष्टि में दैहिक आवश्यकताओं का निषेध, अनासक्ति, विराग और आत्म-सन्तोष ही सर्वोच्च जीवन-मूल्य हैं।

एक ओर जैविक मूल्यों की प्रधानता का परिणाम यह हुआ कि प्रवर्तक धर्म में जीवन के प्रति एक विधायक दृष्टि का निर्माण हुआ तथा जीवन को सर्वतोभावेन वांछनीय और रक्षणीय माना गया, तो दूसरी ओर जैविक मूल्यों के निषेध से जीवन के प्रति एक ऐसी निषेधात्मक दृष्टि का विकास हुआ, जिसमें शारीरिक माँगों का ठुकराना ही जीवन-लक्ष्य मान लिया गया और देह-दण्डन ही तप-त्याग और आध्यात्मिकता के प्रतीक बन गए। प्रवर्तक धर्म जैविक मूल्यों पर बल देते हैं अत: स्वाभाविक रूप से वे समाजगामी बने, क्योंकि दैहिक आवश्यकता की जिज्ञासा जिसका एक अंग काम भी है, की पूर्ण सन्तुष्टि तो समाज-जीवन में ही सम्भव थी, किन्तु विराग और त्याग पर अधिक बल देने के कारण निवर्तक धर्म समाज-विमुख और वैयक्तिक बन गए। यद्यपि दैहिक मूल्यों की उपलब्धि हेतु कर्म आवश्यक थे, किन्तु जब मनुष्य ने यह देखा कि दैहिक आवश्यकताओं की सन्तुष्टि के लिये उसके वैयक्तिक प्रयासों के बावजूद भी उनकी पूर्ति या अपूर्ति किन्ही अन्य शक्तियों पर निर्भर है, तो वह देववादी और ईश्वरवादी बन गया। विश्व-व्यवस्था और प्राकृतिक शक्तियों के नियन्त्रक तत्त्व के रूप में उसने विभिन्न देवों और फिर ईश्वर की कल्पना की और उनकी कृपा की आकांक्षा करने लगा। इसके विपरीत निवर्तक धर्म व्यवहार में नैष्कर्म्यता के समर्थक होते हुए भी कर्म-सिद्धान्त के प्रति आस्था के कारण यह मानने लगे कि व्यक्ति का बन्धन और मुक्ति स्वयं उसके कारण है, अत: निवर्तक धर्म पुरुषार्थवाद और वैयक्तिक प्रयासों पर आस्था रखने लगे। अनीश्वरवाद, पुरुषार्थवाद और कर्म-सिद्धान्त उसके प्रमुख तत्त्व बन गए। साधना के क्षेत्र में जहाँ प्रवर्तक धर्म में अलौकिक दैवीय शक्तियों की प्रसन्नता के निमित्त कर्मकाण्ड और बाह्य-विधानों (यज्ञ-याग) का विकास हुआ, वहीं निवर्तक धर्मों ने चित्त-शुद्धि और सदाचार पर अधिक बल दिया तथा किन्हीं दैवीय शक्तियों के निमित्त कर्म-काण्ड के सम्पादन को अनावश्यक माना।

सांस्कृतिक प्रदेयों की दृष्टि से प्रवर्तक धर्म वर्ण-व्यवस्था, ब्राह्मण संस्था (पुरोहित वर्ग) के प्रमुख समर्थक रहे। ब्राह्मण वर्ग मनुष्य और ईश्वर के बीच एक मध्यस्थ का कार्य करने लगा तथा उसने अपनी आजीविका को सुरक्षित बनाए

रखने के लिये एक ओर समाज-जीवन में अपने वर्चस्व को स्थापित रखना चाहा, तो दूसरी ओर धर्म को कर्मकाण्ड और जटिल विधि-विधानों की औपचारिकता में उलझा दिया। परिणास्वरूप ऊँच-नीच का भेद-भाव, जातिवाद और कर्मकाण्ड का विकास हुआ। किन्तु उसके विपरीत निवर्तक धर्म ने संयम, ध्यान और तप की एक सरल साधना-पद्धति का विकास किया और वर्ण-व्यवस्था, जातिवाद और ब्राह्मण-संस्था के वर्चस्व का विरोध किया। उनमें ब्राह्मण-संस्था के स्थान पर श्रमण-संघों का विकास हुआ, जिसमें सभी जाति और वर्ग के लोगों को समान स्थान मिला। राज्य संस्था की दृष्टि से जहाँ प्रवर्तक धर्म राजतंत्र और अन्याय के प्रतिकार के हेतु संघर्ष की नीति के समर्थक रहे, वहाँ निवर्तक धर्म जनतन्त्र और आत्मोत्सर्ग के समर्थक रहे।

संस्कृतियों के समन्वय की यात्रा

यद्यपि उपरोक्त आधार पर हम प्रवर्तक धर्म अर्थात् वैदिक परम्परा और निवर्तक धर्म अर्थात् श्रमण-परम्परा की मूलभूत विशेषताओं और उनके सांस्कृतिक एवं दार्शनिक प्रदेयों को समझ सकते हैं किन्तु यह मानना भ्रान्तिपूर्ण ही होगा कि आज वैदिकधारा और श्रमणधारा ने अपने इस मूल स्वरूप को बनाए रखा है। एक ही देश और परिवेश में रहकर दोनों ही धाराओं के लिये यह असम्भव था कि वे एक-दूसरे के प्रभाव से अछूती रहें। अत: जहाँ वैदिकधारा में श्रमणधारा (निवर्तक धर्म-परम्परा) के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है, वहाँ श्रमणधारा में प्रवर्तक धर्म-परम्परा के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। अत: आज के युग में कोई धर्म-परम्परा न तो ऐकान्तिक निवृत्तिमार्ग की पोषक है और न ऐकान्तिक प्रवृत्ति-मार्ग की।

वस्तुत: निवृत्ति और प्रवृत्ति के सम्बन्ध में ऐकान्तिक दृष्टिकोण न तो व्यावहारिक है और न मनोवैज्ञानिक। मनुष्य जब तक मनुष्य है, मानवीय आत्मा जब तक शरीर के साथ योजित होकर सामाजिक जीवन जीती है, तब तक ऐकान्तिक प्रवृत्ति और ऐकान्तिक निवृत्ति की बात करना एक मृग-मरीचिका में जीना होगा। वस्तुत: आवश्यकता इस बात की रही है कि हम वास्तविकता को समझें और प्रवृत्ति तथा निवृत्ति के तत्त्वों में समुचित समन्वय से एक ऐसी जीवन-शैली खोजें, जो व्यक्ति और समाज दोनों के लिये कल्याणकारी हो और मानव को तृष्णाजनित मानसिक एवं सामाजिक सन्त्रास के मुक्ति दिला सके। इस प्रकार इन दो भिन्न संस्कृतियों में पारस्परिक समन्वय आवश्यक था।

भारत में प्राचीन काल से ही ऐसे प्रयत्न होते रहे हैं। प्रवर्तक धारा के प्रतिनिधि हिन्दूधर्म में समन्वय के सबसे अच्छे उदाहरण ईशावास्योपनिषद् और

भगवद्गीता हैं। भगवद्गीता में प्रवृत्ति और निवृत्ति मार्ग के समन्वय का स्तुत्य प्रयास हुआ है। इसी प्रकार श्रमण-धारा में भी परवर्ती काल में प्रवर्तक धर्म के तत्त्वों का प्रवेश हुआ है। श्रमण-परम्परा की एक अन्य धारा के रूप में विकसित बौद्ध धर्म में तो प्रवर्तक धारा के तत्त्वों का इतना अधिक प्रवेश हुआ कि महायान से तन्त्रयान की यात्रा तक वह अपने मूल स्वरूप से काफी दूर हो गया। भारतीय धर्मों के ऐतिहासिक विकास-क्रम में हम कालक्रम में हुए इस आदान-प्रदान की उपेक्षा नहीं कर सकते हैं। इसी आदान-प्रदान के कारण ये परम्पराएँ एक-दूसरे के काफी निकट आ गई हैं।

इससे यह भी सिद्ध होता है कि भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चहारदीवारियों में अवरुद्ध कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड-खण्ड में विभाजित करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, जब उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लिया जाय। बिना उसके संयोजित घंटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिये न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है। अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिये कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकती है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देश, काल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकतापूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय विद्या का, हमें उसकी दूसरी परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और यह देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुई है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक प्रभाव के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक संस्कृति का अस्तित्व साथ-साथ पाते हैं, किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब इन्हें एक-दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ये दोनों धाराएँ परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती रही हैं। अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग-अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक क्रिया-काण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि जो जैन परम्परा में तीर्थङ्कर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही हैं। हिन्दूधर्म की शैव धारा और सांख्य-योग आदि की परम्पराएँ मूलत: निवर्तक या श्रमण रही हैं, जो कालक्रम में बृहद् हिन्दूधर्म में आत्मसात् कर ली गई हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है, उससे सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी, जिसमें ध्यान आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा यज्ञशाला आदि का न मिलना यही सिद्ध करता है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान-प्रधान व्रात्य या श्रमण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। यह निश्चित है कि आर्यों के आगमन के साथ प्रारम्भ हुए वैदिक युग से ये दोनों ही धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक-दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार भाव था, वह अथर्ववेद में समादर भाव में बदल जाता है, जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणाएँ, जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थीं, वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से उपनिषदों में अस्तित्व में आ गयी हैं। इससे लगता है कि ये अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिक धारा में प्रविष्ट हुई हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नए

रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति, यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ वैदिक एवं श्रमणधारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत, जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे निवृत्तिप्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिकधारा के समन्वय का परिणाम हैं। उपनिषदों में, महाभारत और गीता में जहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्ति-प्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया है, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की श्रमण-परम्परा के समान आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गई हैं, उसमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा आज का हिन्दूधर्म वैदिक और श्रमणधाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में, जो आवाज औपनिषदिक युग के ऋषि-मुनियों ने उठाई थी, जैन और अन्य श्रमण परम्पराओं ने मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिये कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई तो वे औपनिषदिक ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकाएँ अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम नहीं हैं। यह आदि वैदिक कर्मकाण्डों की नवीन आध्यात्मिक दृष्टि से व्याख्या करने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। महावीर एवं बुद्धकालीन जैन और बौद्ध परम्पराएँ तो औपनिषदिक ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गए पथ पर गतिशील हुई हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषदिक ऋषियों के स्वर का ही मुखरित रूप हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषदिक ऋषियों की अर्हत् ऋषियों के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्ण-व्यवस्था और वेदों के प्रामाण्य से इन्कार किया और इस प्रकार वे भारतीय संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये, किन्तु हमें यह भी नहीं भूलना चाहिये कि भारतीय संस्कृति में आई इन विकृतियों के परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं न कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गए हैं। वैदिक कर्मकाण्ड अब पूजा-विधानों एवं तन्त्र-साधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और अन्य श्रमण-परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया है और उनकी साधना-पद्धति का एक अंग बन गया है। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिये किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा है। जहाँ एक ओर भारतीय श्रमण-परम्परा ने वैदिक

परम्परा को आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के साथ-साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणाएँ प्रदान कीं, वहीं दूसरी ओर इसकी तीसरी चौथी-शती से वैदिक परम्परा के प्रभाव से पूजा-विधान और तान्त्रिक साधनाएँ जैन और बौद्ध परम्पराओं में प्रविष्ट हो गईं। अनेक हिन्दू देव-देवियाँ प्रकारान्तर से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर ली गईं। जैनधर्म में यक्ष-यक्षिणियों एवं शासन-देवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू देवियाँ जैसे — काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती, सिद्धायिका तीर्थङ्करों की शासन-रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म का अंग बन गईं। इसी प्रकार श्रुत-देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी की उपासना भी जैनधर्म में होने लगी और हिन्दू-परम्परा का गणेश पार्श्व-यक्ष के रूप में लोक-मंगल का देवता बन गया। वैदिक परम्परा के प्रभाव से जैन मन्दिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा-विधान में हिन्दू देवताओं की तरह तीर्थङ्करों का भी आवाहन एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजा-विधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इस सबकी विस्तृत चर्चा आगे की गई है। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर पूजा-विधि-विधान प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहाँ हिन्दू परम्पराओं में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन परम्परा में राम और कृष्ण को शलाका पुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार दोनों धाराएँ एक दूसरे से समन्वित हुईं।

आज हमें उनकी इस पारस्परिक प्रभावशीलता को तटस्थ दृष्टि से स्पष्ट करने का प्रयास करना चाहिये, ताकि धर्मों के बीच जो दूरियाँ पैदा कर दी गयी हैं, उन्हें समाप्त किया जा सके और उनकी निकटता को भी सम्यक् रूप से समझा जा सके।

दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्खों — जो कि बृहद् भारतीय परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाइयाँ खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता रहा है कि जैन और बौद्ध धर्म न केवल स्वतन्त्र धर्म हैं, अपितु वे वैदिक हिन्दू-परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह के रूप में चित्रित किया जाता है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण-परम्पराओं में कुछ मूल-भूत प्रश्नों को लेकर स्पष्ट मतभेद है। यह भी सत्य है कि जैन-बौद्ध परम्परा

ने वैदिक परम्परा की उन विकृतियों का जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थी, खुलकर विरोध किया, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं अपितु भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में ही समझना होगा। जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया है। किन्तु स्मरण रखना होगा कि चिकित्सक कभी भी शत्रु नहीं होता, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य चिन्तकों के प्रभाव से भारतीय चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन और बौद्ध चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैनधर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं किन्तु यह एक भ्रान्त अवधारणा है। चाहे अपने मूल रूप में वैदिक एवं श्रमण संस्कृति प्रवर्तक और निवर्तक धर्म-परम्पराओं के रूप में भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु आज न तो हिन्दू-परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णत: वैदिक है और न ही जैन-बौद्ध परम्परा पूर्णत: श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह बात अलग है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख है। उदाहरण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहाँ जैन धर्म आज भी निवृत्ति-प्रधान है वहाँ हिन्दू धर्म प्रवृत्ति-प्रधान। फिर भी यह मानना उचित होगा कि ये दोनों धर्म प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय से ही निर्मित हुए हैं।

हम पूर्व में यह स्पष्ट कर चुके हैं कि इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। अत: आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण-परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन और बौद्ध परम्परा को भी औपनिषदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, प्रेय और श्रेय, परस्पर भिन्न-भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं उसी प्रकार निवृत्ति-प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्ति-प्रधान वैदिकधारा दोनों भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुत: कोई भी संस्कृति ऐकान्तिक निवृत्ति या ऐकान्तिक प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्पराएँ भारतीय संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे हिन्दू-परम्परा। यदि औपनिषदिक धारा को वैदिक धारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू-परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है तो फिर जैन और बौद्ध परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता। यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी अभी तक हिन्दू-धर्म-दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा

सकता है? वस्तुत: हिन्दू-परम्परा कोई एक धर्म और दर्शन न होकर व्यापक परम्परा का नाम है या कहें कि वह अभिन्न वैचारिक एवं साधनात्मक परम्पराओं का समूह है। उसमें ईश्वरवाद-अनीश्वरवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद, प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म सभी कुछ तो समाहित हैं। उसमें प्रकृति-पूजा जैसे धर्म के प्रारम्भिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ तो उसमें सन्निविष्ट हैं। अत: हिन्दू उसी अर्थ में कोई एक धर्म नहीं है जैसे यहूदी, ईसाई या मुसलमान। हिन्दू एक संश्लिष्ट परम्परा है, एक सांस्कृतिक धारा है जिसमें अनेक धाराएँ समाहित हैं।

अत: जैन और बौद्ध धर्म को हिन्दू-परम्परा से नितान्त भिन्न नहीं माना जा सकता। जैन और बौद्ध भी उसी अध्यात्म-पथ के अनुयायी हैं, जिसके औपनिषदिक ऋषि। उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के दलित वर्ग के उत्थान तथा जन्मना जातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। उन्होंने उस धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्‌गुणों पर अधिष्ठित किया गया था। उन्होंने भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के धार्मिक शोषण से मुक्त किया। वे विदेशी नहीं हैं, इसी माटी की सन्तान हैं, वे शत-प्रतिशत भारतीय हैं। जैन, बौद्ध और औपनिषदिक धारा किसी एक ही मूल स्रोत के विकास हैं और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है।

भारतीय धर्मों, विशेषरूप से औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है, उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा —आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन आदि हमारे दिशा-निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं। मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जाएगा कि जैनधर्म, बौद्धधर्म और हिन्दू-धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं। आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने भाव, शब्द-योजना और भाषा-शैली की दृष्टि से औपनिषदिक सूत्रों के निकट हैं। आचारांग में आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह माण्डूक्योपनिषद् से यथावत् मिलता है। आचारांग में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्द्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में ही मिलता है। चाहे आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैनागम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं, किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे। उनकी

दृष्टि में ब्राह्मण वह है जो सदाचार का जीवन्त प्रतीक है। उसमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (समणा-माहणा) का साथ-साथ उल्लेख हुआ है।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है किन्तु उसके साथ ही उसमें औपनिषदिक युग के अनेक ऋषियों यथा — विदेहनमि, बाहुक, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादर-पूर्वक उल्लेख हुआ है। सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से स्वीकार करता है कि इन ऋषियों के आचार-नियम उसकी आचार-परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत् परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है। वह उनका महापुरुष और तपोधन के रूप में उल्लेख करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था। सूत्रकृतांग की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचार-मार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे। सूत्रकृतांग में इन ऋषियों को महापुरुष, तपोधन एवं सिद्धि-प्राप्त कहना तथा उत्तराध्ययन में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा अत्यन्त उदार थी और वह मानती थी कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार-नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, अपितु भिन्न आचार-मार्ग का पालन करने वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है।

इसी सन्दर्भ में यहाँ ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) का उल्लेख करना भी आवश्यक है, जो जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई० पू० चौथी शती) है। जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा जब जैन धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था। इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगिरस, पाराशर, अरुण, नारायण, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप, मंखलिगोशाल, संजय (बेलिट्ठिपुत्त) आदि पैंतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हत्-ऋषि, बुद्ध-ऋषि या ब्राह्मण-ऋषि कहा गया है। ऋषिभाषित में इनके आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है। जैन-परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा और जैन-परम्परा का उद्गम स्रोत एक ही है। यह ग्रन्थ न केवल जैन धर्म की धार्मिक उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है। औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धाराएँ हैं। जिस प्रकार जैन धर्म के ऋषिभाषित में विभिन्न परम्पराओं के उपदेश संकलित हैं, उसी प्रकार बौद्ध परम्परा की थेरगाथा में भी विभिन्न परम्पराओं के

जिन-स्थविरों के उपदेश संकलित हैं। उसमें भी अनेक औपनिषदिक एवं अन्य श्रमण-परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं, जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी हैं। यह सब इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय चिन्तन-धारा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है। आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों में जकड़कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं, इन धाराओं का तुलनात्मक अध्ययन हमें एक नयी दृष्टि प्रदान कर सकता है। यदि भारतीय सांस्कृतिक चिन्तन की इन धाराओं को एक दूसरे से अलग कर देखने का प्रयत्न किया जायगा तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे। उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और आचारांग को समझने के लिये औपनिषदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है। इसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध साहित्य को भी जैन परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है। आज साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है और भारतीय धर्मों की पारस्परिक प्रभावशीलता को स्पष्ट कर सकता है।

जैन धर्म का हिन्दू धर्म को अवदान

औपनिषदिक काल या महावीर-युग की सबसे प्रमुख समस्या यह थी कि उस युग में अनेक परम्पराएँ अपने एकांगी दृष्टिकोण को ही पूर्ण सत्य समझकर परस्पर एक-दूसरे के विरोध में खड़ी थीं। उस युग में चार प्रमुख वर्ग थे — १. क्रियावादी, २. अक्रियावादी, ३. विनयवादी और ४. अज्ञानवादी। महावीर ने सर्वप्रथम उनमें समन्वय करने का प्रयास किया। प्रथम, क्रियावादी दृष्टिकोण आचार के बाह्य पक्षों पर अधिक बल देता था। वह कर्मकाण्डपरक था। बौद्ध परम्परा में इस धारणा को शीलव्रतपरामर्श कहा गया है। दूसरा दृष्टिकोण अक्रियावाद का था। अक्रियावाद के तात्त्विक आधार या तो विभिन्न नियतिवादी दृष्टिकोण थे या आत्मा को कूटस्थ एवं अकर्ता मानने की तात्त्विक अवधारणा के पोषक थे। ये परम्पराएँ ज्ञानमार्ग की प्रतिपादक थीं। जहाँ क्रियावाद के अनुसार कर्म या आचरण ही साधना का सर्वस्व था, वहाँ अक्रियावाद के अनुसार ज्ञान ही साधना का सर्वस्व था। क्रियावाद कर्ममार्ग का प्रतिपादक था और अक्रियावाद ज्ञानमार्ग का प्रतिपादक। कर्ममार्ग और ज्ञानमार्ग के अतिरिक्त तीसरी परम्परा अज्ञानवादियों की थी जो अतीन्द्रिय एवं पारलौकिक मान्यताओं को 'अज्ञेय' स्वीकार करती थी। इसका दर्शन रहस्यवाद और सन्देहवाद इन दो रूपों में विभाजित था। इन तीनों परम्पराओं के अतिरिक्त चौथी परम्परा विनयवाद की थी,

जिसे भक्तिमार्ग का प्रारम्भिक रूप माना जाता है। विनयवाद भक्तिमार्ग का ही अपरनाम था। इस प्रकार उस युग में ज्ञानमार्ग, कर्ममार्ग, भक्तिमार्ग और अज्ञेयवाद (सन्देहवाद) की परम्पराएँ अलग-अलग रूप में प्रतिष्ठित थीं। महावीर ने अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के आधार इनमें समन्वय खोजने का प्रयास किया। सर्वप्रथम उन्होंने सम्यक्-ज्ञान, सम्यक्-दर्शन और सम्यक्-चारित्र के रूप में त्रिविध मोक्षमार्ग का एक ऐसा सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसमें ज्ञानवादी, कर्मवादी और भक्तिमार्गी परम्पराओं का समुचित समन्वय था। इस प्रकार महावीर एवं जैन-दर्शन का प्रथम प्रयास ज्ञानमार्गीय, कर्ममार्गीय, विभिन्न भक्तिमार्गी, तापस आदि एकांगी दृष्टिकोणों के मध्य समन्वय स्थापित करना था। यद्यपि गीता में ज्ञानयोग, कर्मयोग और भक्तियोग की चर्चा हुई है, किन्तु वहाँ इनमें से प्रत्येक को मोक्ष-मार्ग मान लिया गया है।

जैनधर्म ने न केवल वैदिक ऋषियों द्वारा प्रतिपादित यज्ञ-याग की परम्परा का विरोध किया, वरन् श्रमण-परम्परा के देह-दण्डन की तपस्यात्मक प्रणाली का भी विरोध किया। सम्भवत: महावीर के पूर्व पार्श्व के काल तक धर्म का सम्बन्ध बाह्य तथ्यों से ही जोड़ा गया था। यही कारण था कि जहाँ ब्राह्मण-वर्ग यज्ञ-याग के क्रियाकाण्डों में धर्म की इतिश्री मान लेता था, वहाँ श्रमण-वर्ग भी विविध प्रकार के देह-दण्डन में ही धर्म की इतिश्री मान लेता था। सम्भवत: जैन परम्परा के महावीर के पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ ने आध्यात्मिक साधना के बाह्य पहलू के स्थान पर उसके आन्तरिक पहलू पर बल दिया था और परिणामस्वरूप श्रमण-परम्पराओं में भी बौद्ध आदि कुछ धर्म-परम्पराओं ने इस आन्तरिक पहलू पर अधिक बल देना प्रारम्भ कर दिया था। लेकिन महावीर के युग तक धर्म एवं साधना का यह बाह्यमुखी दृष्टिकोण पूरी तरह समाप्त नहीं हो पाया था, वरन् ब्राह्मण परम्परा में तो यज्ञ श्रद्धादि के रूप में वह अधिक प्रसार पा गया था। दूसरी ओर जिन विचारकों ने साधना के आन्तरिक पक्ष पर बल देना प्रारम्भ किया था, उन्होंने उसके बाह्य पक्ष की पूरी तरह अवहेलना करना प्रारम्भ कर दिया था, परिणामस्वरूप वे भी एक अति की ओर जाकर एकांगी बन गए। अत: महावीर ने दोनों ही पक्षों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया और यह बताया कि धर्म-साधना का सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन से है। उसमें आचरण के बाह्य पक्ष के रूप में क्रिया का जो स्थान है, उससे भी अधिक स्थान आचरण के आन्तरिक प्रेरक का है। इस प्रकार उन्होंने धार्मिक जीवन में आचरण के प्रेरक और आचरण के परिणाम दोनों पर ही बल दिया। उन्होंने ज्ञान और क्रिया के बीच समन्वय स्थापित किया। नरसिंहपुराण (६१/९/११) में भी आवश्यक निर्युक्ति (तीसरी शती

९५-९७) के समान ही ज्ञान और क्रिया के समन्वय को अनेक रूपकों से वर्णित किया है। इससे यह सिद्ध होता है कि जैन-परम्परा के इस चिन्तन ने हिन्दू-परम्परा को प्रभावित किया है।

मानव मात्र की समानता का उद्घोष

उस युग की सामाजिक समस्याओं में वर्ण-व्यवस्था एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी। वर्ण का आधार कर्म और स्वभाव को छोड़ जन्म मान लिया गया था। परिणामस्वरूप वर्ण-व्यवस्था विकृत हो गयी थी और ऊँच-नीच का भेद हो गया था, जिसके कारण सामाजिक स्वास्थ्य विषमता के ज्वर से आक्रान्त था। जैन विचारधारा ने जन्मना जातिवाद का विरोध किया और समस्त मानवों की समानता का उद्घोष किया। एक ओर उसने हरिकेशी बल जैसे निम्न कुलोत्पन्न को, तो दूसरी ओर गौतम जैसे ब्राह्मण कुलोत्पन्न साधकों को अपने साधना-मार्ग में समान रूप से दीक्षित किया। केवल जातिगत विभेद ही नहीं वरन् आर्थिक विभेद भी समानता की दृष्टि से जैन विचारधारा के सामने कोई मूल्य नहीं रखता। जहाँ एक ओर मगध-सम्राट तो दूसरी ओर पुणिया जैसे निर्धन श्रावक भी उसकी दृष्टि में समान थे। इस प्रकार उसने जातिगत या आर्थिक आधार पर ऊँच-नीच का भेद अस्वीकार कर मानव मात्र की समानता पर बल दिया। इसका प्रभाव हिन्दूधर्म पर भी पड़ा और उसमें भी गुप्तकाल के पश्चात् भक्तियुग में वर्ण-व्यवस्था और ब्राह्मण वर्ग की श्रेष्ठता का विरोध हुआ। वैसे तो महाभारत के रचनाकाल (लगभग चौथी शती) से ही यह प्रभाव परिलक्षित होता है।

ईश्वर से मुक्ति और मानव की स्वतन्त्रता का उद्घोष

उस युग की दूसरी समस्या यह थी कि मानवीय स्वतन्त्रता का मूल्य लोगों की दृष्टि में कम आँका जाने लगा था। एक ओर ईश्वरवादी धारणाएँ तो दूसरी ओर कालवादी एवं नियतिवादी धारणाएँ मानवीय स्वतन्त्रता को अस्वीकार करने लगी थीं। जैन-दर्शन ने इस कठिनाई को समझा और मानवीय स्वतन्त्रता की पुन: प्राण-प्रतिष्ठा की। उसने यह उद्घोष किया कि न तो ईश्वर और न अन्य शक्तियाँ मानव की निर्धारक हैं, वरन् मनुष्य स्वयं ही अपना निर्माता है। इस प्रकार उसने मनुष्य को ईश्वरवाद की उस धारणा से मुक्ति दिलाई जो मानवीय स्वतन्त्रता का अपहरण कर रही थी और यह प्रतिपादित किया कि मानवीय स्वतन्त्रता में निष्ठा ही धर्म-दर्शन का सच्चा आधार बन सकती है। जैनों की इस अवधारणा का प्रभाव हिन्दूधर्म पर उतना अधिक नहीं पड़ा, जितना अपेक्षित था। फिर भी ईश्वरवाद की स्वीकृति के साथ-साथ मानव की श्रेष्ठता के स्वर तो मुखरित हुए ही थे।

रूढ़िवाद से मुक्ति

जैन धर्म ने रूढ़िवाद से भी मानव-जाति को मुक्त किया। उसने उस युग की अनेक रूढ़ियों जैसे — पशु-यज्ञ, श्राद्ध, पुरोहितवाद आदि से मानव-समाज को मुक्त करने का प्रयास किया था और इसलिये इन सबका खुला विरोध भी किया। ब्राह्मण-वर्ग ने अपने को ईश्वर का प्रतिनिधि बताकर सामाजिक शोषण का जो सिलसिला प्रारम्भ किया था, उसे समाप्त करने के लिये जैन एवं बौद्ध परम्पराओं ने प्रयास किया। जैन और बौद्ध आचार्यों ने सबसे महत्त्वपूर्ण काम यह किया कि उन्होंने यज्ञादि प्रत्ययों को नई परिभाषाएँ प्रदान कीं। यहाँ जैनधर्म के द्वारा प्रस्तुत ब्राह्मण, यज्ञ आदि की कुछ नई परिभाषाएँ दी जा रही हैं।

ब्राह्मण का नया अर्थ

जैन-परम्परा ने सदाचरण को ही मानवीय जीवन में उच्चता और निम्नता का प्रतिमान माना और उसे ही ब्राह्मणत्व का आधार बताया। उत्तराध्ययनसूत्र के पच्चीसवें अध्याय एवं धम्मपद के ब्राह्मण वर्ग नामक अध्याय में सच्चा ब्राह्मण कौन है, इसका सविस्तार विवेचन उपलब्ध है। विस्तार भय से उसकी समग्र चर्चा में न जाकर केवल एक दो पद्यों को प्रस्तुत कर ही विराम लेंगे। उत्तराध्ययनसूत्र में बताया गया है कि 'जो जल में उत्पन्न हुए कमल के समान भोगों में उत्पन्न होते हुए भी भोगों में लिप्त नहीं रहता, वही सच्चा ब्राह्मण है'।[१] जो राग, द्वेष और भय से मुक्त होकर अन्तर में विशुद्ध है, वही सच्चा ब्राह्मण है। धम्मपद में भी कहा है कि जैसे कमलपत्र पानी से अलिप्त होता है, जैसे आरे की नोक पर सरसों का दाना होता है, वैसे ही जो कामों में लिप्त नहीं होता, जिसने अपने दु:खों के क्षय को यहीं पर देख लिया है, जिसने जन्म-मरण के भार को उतार दिया है, जो सर्वथा अनासक्त हैं, जो मेधावी हैं, स्थितप्रज्ञ हैं, जो सन्मार्ग तथा कुमार्ग को जानने में कुशल हैं और जो निर्वाण की उत्तम स्थिति को पहुँच चुके हैं — उन्हें ही मैं ब्राह्मण कहता हूँ।[२] इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन एवं बौद्ध दोनों परम्पराओं ने ही ब्राह्मणत्व की श्रेष्ठता को स्वीकार करते हुए भी ब्राह्मण की एक नई परिभाषा प्रस्तुत की जो श्रमण परम्परा के अनुकूल थी। फलत: न केवल जैन परम्परा एवं बौद्ध परम्परा में, वरन् हिन्दू परम्परा के महान् ग्रन्थ महाभारत में भी ब्राह्मणत्व की यही परिभाषा दी गई है। जैन परम्परा के उत्तराध्ययनसूत्र, बौद्ध परम्परा के धम्मपद और महाभारत के शान्तिपर्व में सच्चे ब्राह्मण के स्वरूप का जो विवरण मिलता है, वह न केवल वैचारिक साम्यता रखता है, वरन् उसमें शाब्दिक साम्यता भी बहुत अधिक है, जो कि तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है और इन परम्पराओं के पारस्परिक प्रभाव को स्पष्ट करता है।

यज्ञ का नया अर्थ

जिस प्रकार ब्राह्मण की नई परिभाषा प्रस्तुत की गई उसी प्रकार यज्ञ को भी एक नए अर्थ में परिभाषित किया गया। महावीर ने न केवल हिंसक यज्ञों के विरोध में अपना मन्तव्य प्रस्तुत किया, वरन् उन्होंने यज्ञ की आध्यात्मिक एवं तपस्यापरक नई परिभाषा भी प्रस्तुत की। उत्तराध्ययन में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का सविस्तार विवेचन है। बताया गया है कि "तप अग्नि है; जीवात्मा अग्निकुण्ड है; मन, वचन और काया की प्रवृत्तियाँ ही कलछी (चम्मच) हैं और कर्मों (पापों) का नष्ट करना ही आहुति है; यही यज्ञ संयम से युक्त होने से शान्तिदायक और सुखकारक है। ऋषियों ने ऐसे ही यज्ञ की प्रशंसा की है।"[३] फलत: केवल जैन-परम्परा में वरन् बौद्ध और वैदिक परम्पराओं में भी यज्ञ-याग के बाह्य पक्ष का खण्डन और उसके आध्यात्मिक स्वरूप का चित्रण उपलब्ध होता है। बुद्ध ने भी आध्यात्मिक यज्ञ के स्वरूप का चित्रण लगभग उसी रूप में किया है जिस रूप में उसका विवेचन उत्तराध्ययन सूत्र में किया गया है। अंगुत्तरनिकाय में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का वर्णन करते हुए बुद्ध कहते हैं कि हे ब्राह्मण, ये तीन अग्नियाँ त्याग करने, परिवर्जन करने के योग्य हैं, इनका सेवन नहीं करना चाहिये। वे कौन सी हैं? कामाग्नि, द्वेषाग्नि और मोहाग्नि। जो मनुष्य कामाभिभूत होता है वह काया-वाचा-मनसा कुकर्म करता है और उसके मरणोत्तर दुर्गति पाता है। इसी प्रकार द्वेष एवं मोह से अभिभूत भी काया-वाचा-मनसा कुकर्म करके दुर्गति को पाता है। इसलिये ये तीन अग्नियाँ त्याग करने और परिवर्तन के योग्य हैं, उनका सेवन नहीं करना चाहिये। हे ब्राह्मण, इन तीन अग्नियों का सत्कार करें, इन्हें सम्मान प्रदान करें, इनकी पूजा और परिचर्या भलीभाँति सुख से करें। ये अग्नियाँ कौन सी हैं, आह्वानीयाग्नि (आहनेहय्यग्गि), गार्हपत्याग्नि (गहपत्तग्गि) और दक्षिणाग्नि (दक्खिणाय्यग्गि)। माँ-बाप को आह्वानीयाग्नि समझना चाहिये और सत्कार से उनकी पूजा करनी चाहिये। पत्नी और बच्चे, दास तथा कर्मकार को गार्हपत्याग्नि समझना चाहिये और आदर्शपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। श्रमण-ब्राह्मणों को दक्षिणाग्नि समझना चाहिये और सत्कारपूर्वक उनकी पूजा करनी चाहिये। हे ब्राह्मण, यह लकड़ियों की अग्नि तो कभी जलानी पड़ती है, कभी उपेक्षा करनी पड़ती है और कभी उसे बुझाना पड़ता है,[४] किन्तु ये अग्नियाँ तो सदैव और सर्वत्र पूजनीय हैं। इसी प्रकार बुद्ध ने भी हिंसक यज्ञों के स्थान पर यज्ञ के आध्यात्मिक एवं सामाजिक स्वरूप को प्रकट किया। इतना ही नहीं, उन्होंने सच्चे यज्ञ का अर्थ सामाजिक जीवन में सहयोग करना बताया।[५] श्रमण-धारा के इस दृष्टिकोण के समान ही उपनिषदों एवं गीता में भी यज्ञ-याग की निन्दा

की गयी है और यज्ञ की सामाजिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचना की गई है। सामाजिक सन्दर्भ में यज्ञ का अर्थ समाज-सेवा माना गया है। निष्कामभाव से समाज की सेवा करना गीता में यज्ञ का सामाजिक पहलू था। दूसरी ओर गीता में यज्ञ के आध्यात्मिक स्वरूप का विवेचन भी किया गया है। गीताकार कहता है कि योगीजन संयमरूप अग्निरूप अग्नि में श्रोत्रादि इन्द्रियों का हवन करते हैं या इन्द्रियों के विषयों का इन्द्रियों में हवन करते हैं। दूसरे कुछ साधक इन्द्रियों के सम्पूर्ण कर्मों को और शरीर के भीतर रहने वाला वायु जो प्राण कहलाता है, उसके 'संकुचित होने', 'फैलने' आदि कर्मों को ज्ञान से प्रकाशित हुई आत्म-संयमरूप योगाग्नि में हवन करते हैं। आत्मविषयक संयम का नाम आत्म-संयम है, वही यहाँ योगाग्नि है। घृतादि चिकनी वस्तु प्रज्वलित हुई अग्नि की भाँति विवेक-विज्ञान से उज्ज्वलता को प्राप्त हुई (धारणा-ध्यान समाधि रूप) उस आत्म-संयम-योगाग्नि में (प्राण और इन्द्रियों के कर्मों को) विलीन कर देते हैं।[६] इस प्रकार जैनधर्म में यज्ञ के जिस आध्यात्मिक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है, उसका अनुमोदन बौद्ध परम्परा और वैदिक परम्परा में हुआ है। यही श्रमण-परम्परा का हिन्दू-परम्परा को मुख्य अवदान था।

स्नान आदि के प्रति नया दृष्टिकोण

जैन विचारकों ने अन्य नैतिकता सम्बन्धी विचारों को भी नई दृष्टि प्रदान की। बाह्य शौच या स्नान, जो कि उस समय धर्म और नैतिक जीवन का एक मुख्य रूप मान लिया गया था, को भी एक नया आध्यात्मिक स्वरूप प्रदान किया गया। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि धर्म जलाशय है और ब्रह्मचर्य घाट (तीर्थ) है, उसमें स्नान करने से आत्मा शान्त, निर्मल और शुद्ध हो जाती है। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन में भी सच्चे स्नान का अर्थ मन, वाणी और काया से सद्गुणों का सम्पादन माना गया है।[७] न केवल जैन और बौद्ध परम्परा में वरन् वैदिक परम्परा में भी यह विचार प्रबल हो गया कि यथार्थ शुद्धि आत्मा के सद्गुणों के विकास में निहित है। इस प्रकार श्रमणों के इस चिन्तन का प्रभाव वैदिक या हिन्दू परम्परा पर भी हुआ।

इसी प्रकार ब्राह्मणों को दी जाने वाली दक्षिणा के प्रति एक नई दृष्टि प्रदान की गई और यह बताया गया कि दान की अपेक्षा, संयम ही श्रेष्ठ है। उत्तराध्ययनसूत्र में कहा गया है कि प्रति मास सहस्रों गायों का दान करने की अपेक्षा भी जो बाह्य रूप से दान नहीं करता, वरन् संयम का पालन करता है, उस व्यक्ति का संयम ही अधिक श्रेष्ठ है।[८] धम्मपद में भी कहा गया है कि एक तरफ मनुष्य यदि वर्षों तक हजारों की दक्षिणा देकर प्रति मास यज्ञ करता जाय और

दूसरी तरफ यदि वह पुण्यात्मा की क्षण भर भी सेवा करे तो यह सेवा कहीं उत्तम है, न कि सौ वर्षों तक किया हुआ यज्ञ।[१] इस प्रकार जैनधर्म ने तत्कालीन कर्मकाण्डी मान्यताओं को एक नई दृष्टि प्रदान की और उन्हें आध्यात्मिक स्वरूप दिया, साथ ही धर्म-साधना का जो बहिर्मुखी दृष्टिकोण था उसे आध्यात्मिक संस्पर्श द्वारा अन्तर्मुखी बनाया। इससे उस युग के वैदिक चिन्तन में एक क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुआ। इस प्रकार वैदिक संस्कृति को रूपान्तरित करने का श्रेय सामान्य रूप से श्रमण-परम्परा के और विशेष रूप से जैन-परम्परा को है।

कर्मकाण्ड और आध्यात्मिक साधनाएँ प्रत्येक धर्म के अनिवार्य अंग हैं। कर्मकाण्ड उसका शरीर है और आध्यात्मिकता उसका प्राण। भारतीय धर्मों में प्राचीन काल से ही हमें ये दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। जहाँ प्रारम्भिक वैदिक-परम्परा धर्म-कर्म-काण्डात्मक अधिक रही है, वहाँ प्राचीन श्रमण-परम्पराएँ साधनात्मक अधिक रही हैं। फिर भी इन दोनों प्रवृत्तियों को एक दूसरे से पूर्णतया पृथक् रख पाना कठिन है। श्रमण-परम्परा में आध्यात्मिक और धार्मिक साधना के जो विधि-विधान बने थे, वे भी धीरे-धीरे कर्मकाण्ड के रूप में ही विकसित होते गये। अनेक आन्तरिक एवं बाह्य साक्ष्यों से यह सुनिश्चित हो जाता है कि इनमें अधिकांश कर्मकाण्ड वैदिक या ब्राह्मण परम्परा अथवा दूसरी अन्य परम्पराओं के प्रभाव से आये हैं।

जैन-परम्परा मूलतः श्रमण-परम्परा का ही एक अंग है और इसलिये यह अपने प्रारम्भिक रूप में कर्मकाण्ड की विरोधी एवं आध्यात्मिक साधना प्रधान रही है। मात्र यही नहीं उत्तराध्ययन जैसे प्राचीन जैन-ग्रन्थों में स्नान, हवन, यज्ञ आदि कर्मकाण्डों का विरोध भी परिलक्षित होता है। जैसा हम पूर्व में बता चुके हैं कि उत्तराध्ययनसूत्र की यह विशेषता है कि उसने धर्म के नाम पर किये जाने वाले इन कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों को एक आध्यात्मिक रूप प्रदान किया था। तत्कालीन ब्राह्मण वर्ग ने यज्ञ, श्राद्ध और तर्पण के नाम पर कर्मकाण्डों एवं अनुष्ठानों के माध्यम से सामाजिक शोषण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ की थी, जैन और बौद्ध परम्पराओं ने उसका खुला विरोध किया था।

वस्तुतः वैदिक कर्मकाण्ड की विरोधी जनजातियों एवं भक्तिमार्गी परम्परा में धार्मिक अनुष्ठान के रूप में पूजा-विधि का विकास हुआ, तो श्रमण-परम्परा में तपस्या और ध्यान का । जैन समाज में यक्षपूजा के प्राचीनतम उल्लेख जैनागमों में उपलब्ध हैं। जनसाधारण में प्रचलित भक्तिमार्गी धारा का प्रभाव जैन

और बौद्ध धर्मों पर भी पड़ा और उनमें तप, संयम एवं ध्यान के साथ-साथ जिन एवं बुद्ध की पूजा की भावना विकसित हुई। परिणामत: प्रथम स्तूप, चैत्य आदि के रूप में प्रतीक पूजा प्रारम्भ हुई फिर सिद्धायतन (जिन-मन्दिर) आदि बने और बुद्ध एवं जिन-प्रतिमा की पूजा होने लगी, परिणामस्वरूप जिन-पूजा, दान, आदि को गृहस्थ का मुख्य कर्तव्य माना गया। दिगम्बर परम्परा में तो गृहस्थ के लिये प्राचीन षडावश्यकों के स्थान पर षट् दैनिक कृत्यों — जिनपूजा, गुरुसेवा, स्वाध्याय, तप, संयम एवं दान — की कल्पना की गयी। हमें आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, भगवती आदि प्राचीन आगमों में जिनपूजा की विधि का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है। इनकी अपेक्षा परवर्ती आगमों — स्थानांग आदि में जिनप्रतिमा एवं जिनमन्दिर (सिद्धायतन) के उल्लेख है, किन्तु उनमें पूजा सम्बन्धी किसी अनुष्ठान की चर्चा नहीं है। जबकि राजप्रश्नीय में सूर्याभदेव और ज्ञाताधर्मकथा में द्रौपदी के द्वारा जिनप्रतिमाओं के पूजन के उल्लेख हैं। यह सब बृहद् हिन्दू-परम्परा का जैनधर्म पर प्रभाव है।

द्रव्यपूजा के सम्बन्ध में राजप्रश्नीय में वर्णित सूर्याभदेव द्वारा की जाने वाली पूजा-विधि आज भी उसी रूप में प्रचलित है। उसमें प्रतिमा के प्रमार्जन, स्नान, अंग-प्रोच्छन, गंध-विलेपन, गंध-माल्य, वस्त्र आदि के अर्पण के उल्लेख हैं, किन्तु राजप्रश्नीय में उल्लिखित यह पूजाविधि भी जैन-परम्परा में एकदम विकसित नहीं हुई है। स्तवन से चैत्यवन्दन और चैत्यवन्दन से पुष्प-अर्चा प्रारम्भ हुई होगी। यह भी सम्भव है कि जिनमन्दिरों और जिनबिम्बों के निर्माण के साथ पुष्पपूजा प्रचलित हुई होगी। फिर क्रमशः पूजा की सामग्री में वृद्धि होती गई और अष्टद्रव्यों से पूजा होने लगी। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री के शब्दों में — "पूजन-सामग्री के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा हमें जैन वाङ्मय में उपलब्ध होती है। आरम्भ में पूजन-विधि केवल पुष्पों के द्वारा सम्पन्न की जाती थी, फिर क्रमशः धूप, चन्दन और नैवेद्य आदि पूजा-द्रव्यों का विकास हुआ। पद्मपुराण, हरिवंश-पुराण एवं जटासिंहनन्दि के वरांगचरित में हमारे उक्त कथन का सम्यक् समर्थन होता है। वरांगचरित में राजा श्रीकण्ठ कहता है कि मैंने नाना प्रकार के पुष्प, धूप और मनोहारी गन्ध से भगवान् की पूजा करने का संकल्प किया था, पर वह पूजा न हो सकी।

पद्मपुराण में उल्लेख है कि रावण स्नान कर धौतवस्त्र पहन, स्वर्ण और रत्ननिर्मित जिनबिम्बों की नदी के तट पर पूजा करने लगा, किन्तु उसके द्वारा प्रयुक्त पूजा-सामग्री में धूप, चन्दन, पुष्प और नैवेद्य का ही उल्लेख आया है, अन्य द्रव्यों का नहीं। यह स्पष्ट है कि प्रचलित अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने की प्रथा

दिगम्बर परम्परा में श्वेताम्बरों की अपेक्षा कुछ समय के पश्चात् ही प्रचलित हुई होगी।

सर्वप्रथम हरिवंशपुराण में जिनसेन ने जल, चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप, दीप और नैवेद्य का उल्लेख किया है। इस उल्लेख में भी अष्टद्रव्यों का क्रम यथावत् नहीं और न जल का पृथक् निर्देश ही है। स्मरण रहे कि प्रतिमा-प्रक्षालन की प्रक्रिया का अग्रिम विकास अभिषेक है, जो अपेक्षाकृत और भी परवर्ती है।

पद्मपुराण, पद्मनन्दिकृत पंचविंशति, आदिपुराण, हरिवंशपुराण, वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थों से अष्टद्रव्यों का फलादेश भी ज्ञात होता है। यह माना गया है कि अष्टद्रव्यों द्वारा पूजन करने से ऐहिक और पारलौकिक अभ्युदयों की प्राप्ति होती है। भावसंग्रह में भी अष्टद्रव्यों का पृथक्-पृथक् फलादेश बताया गया है।

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री द्वारा प्रस्तुत यह विवरण हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से दिगम्बर परम्परा में पूजा-द्रव्यों के क्रमिक विकास को स्पष्ट कर देता है। श्वेताम्बर परम्परा में हिन्दुओं की पंचोपचारी पूजा से अष्टप्रकारी पूजा और उसी से सत्रह भेदी पूजा विकसित हुई। यह सर्वोपचारी या सत्रह भेदी पूजा वैष्णवों की षोडशोपचारी पूजा का ही रूप है और बहुत कुछ रूप में इसका उल्लेख राजप्रश्नीय में उपलब्ध है।

इस समग्र चर्चा में हमें ऐसा लगता है कि जैन-परम्परा में सर्वप्रथम धार्मिक अनुष्ठान के रूप में षडावश्यकों का विकास हुआ। उन्हीं षडावश्यकों में स्तवन या गुण-स्तुति का स्थान या उसी से आगे चलकर भावपूजा प्रचलित हुई और फिर द्रव्यपूजा की कल्पना सामने आई, किन्तु द्रव्यपूजा का विधान केवल श्रावकों के लिये हुआ। तत्पश्चात् श्वेताम्बर और दिगम्बर दोनों परम्पराओं में जिनपूजा-सम्बन्धी जटिल विधि-विधानों को जो विस्तार हुआ, वह सब ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव था। आगे चलकर जिनमन्दिर के निर्माण एवं जिनबिम्बों की प्रतिष्ठा के सम्बन्ध में हिन्दुओं का अनुसरण करके अनेक प्रकार के विधि-विधान बने। पं० फूलचंदजी सिद्धान्तशास्त्री ने "ज्ञानपीठ पूजांजलि" की भूमिका में और डॉ० नेमिचंदजी शास्त्री ने, अपने एक लेख 'पुष्पकर्म-देवपूजा : विकास एवं विधि' जो उनकी पुस्तक "भारतीय संस्कृति के विकास में जैन वाङ्मय का अवदान" (प्रथम खण्ड), पृ० ३७९ पर प्रकाशित है, में इस बात को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि जैन-परम्परा में पूजा-द्रव्यों का क्रमशः विकास हुआ है। यद्यपि पुष्पपूजा प्राचीनकाल से ही प्रचलित है फिर भी यह जैन-परम्परा के आत्यन्तिक अहिंसा सिद्धान्त से मेल नहीं खाती है। एक ओर तो पूजा-विधान का

पाठ जिसमें होने वाली एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त हो और दूसरी ओर पुष्प, जो स्वयं एकेन्द्रिय जीव हैं, उन्हें जिन-प्रतिमा को समर्पित करना कहाँ तक संगतिपूर्ण हो सकता है। वह प्रायश्चित्त पाठ निम्नलिखित है —

ईर्यापथे प्रचलताद्य मया प्रमादात्,
एकेन्द्रियप्रमुखजीवनिकायबाधा ।
निर्वर्तिता यदि भवेव युगान्तरेक्षा,
मिथ्या तदस्तु दुरितं गुरुभक्तितो मे ।।

स्मरणीय है कि श्वेताम्बर परम्परा में चैत्यवन्दन में भी 'इरियाविहि विराहनाये' नामक पाठ किया जाता है, जिसका तात्पर्य है 'मैं चैत्यवन्दन के लिये जाने में हुई एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का प्रायश्चित्त करता हूँ'। दूसरी ओर पूजा-विधानों में एवं होमों में पृथ्वी, वायु, अप, अग्नि और वनस्पतिकायिक एकेन्द्रिय जीवों की हिंसा का विधान, एक आन्तरिक असंगति तो है ही। सम्भवत: हिन्दू-धर्म के प्रभाव से ईसा की छठी-सातवीं शताब्दी तक जैनधर्म में पूजा-प्रतिष्ठा सम्बन्धी अनेक कर्मकाण्डों का प्रवेश हो गया था। यही कारण है कि आठवीं शती में हरिभद्र को इनमें से अनेक का मुनियों के लिये निषेध करना पड़ा। हरिभद्र ने सम्बोधप्रकरण में चैत्यों में निवास, जिनप्रतिमा की द्रव्यपूजा, जिनप्रतिमा के समक्ष नृत्य, गान, नाटक आदि का जैनमुनि के लिये निषेध किया है।[१०]

सामान्यत: जैन-परम्परा में तपप्रधान अनुष्ठानों का सम्बन्ध कर्ममल को दूरकर मनुष्य के आध्यात्मिक गुणों का विकास और पाशविक आवेगों का नियन्त्रण रहा है। जिनभक्ति और जिनपूजा सम्बन्धी अनुष्ठानों का उद्देश्य भी लौकिक उपलब्धियों एवं विघ्न-बाधाओं का उपशमन न होकर व्यक्ति का अपना आध्यात्मिक विकास ही है। जैन साधक स्पष्ट रूप से इस बात को दृष्टि में रखता है कि प्रभु की पूजा और स्तुति केवल भक्त के स्व-स्वरूप या जिनगुणों की उपलब्धि के लिये है।

जैन परम्परा का उद्घोष है — 'वन्दे तद्गुण लब्धये' अर्थात् जिनदेव की एवं हमारी आत्मा तत्त्वत: समान है, अत: वीतराग के गुणों की उपलब्धि का अर्थ है स्वरूप की उपलब्धि। इस प्रकार जैन अनुष्ठान मूलत: आत्मविशुद्धि और स्वरूप की उपलब्धि के लिये है। जैन अनुष्ठानों में जिन गाथाओं या मन्त्रों का पाठ किया जाता है, उनमें भी अधिकांशत: तो पूजनीय के स्वरूप का ही बोध कराते हैं अथवा आत्मा के लिये पतनकारी प्रवृत्तियों का अनुस्मरण कराकर उनसे मुक्त होने की प्रेरणा देते हैं।

यद्यपि जैन अनुष्ठानों की मूल प्रकृति अध्यात्मपरक है, किन्तु मनुष्य की यह एक स्वाभाविक कमजोरी है कि वह धर्म के माध्यम से भौतिक सुख-सुविधाओं की उपलब्धि चाहता है, साथ ही उनकी उपलब्धि में बाधक शक्तियों के निवर्तन के लिये भी धर्म से ही अपेक्षा रखता है। वह धर्म को इष्ट की प्राप्ति और अनिष्ट के शमन का साधन मानता है। मनुष्य की इस स्वाभाविक प्रवृत्ति का यह परिणाम हुआ कि हिन्दू धर्म के प्रभाव से जैन परम्परा में भी अनुष्ठानों का आध्यात्मिक स्वरूप पूर्णतया स्थिर न रह सका, उसमें विकृति आयी। सत्य तो यह है कि जैनधर्म का अनुयायी आखिर वही मनुष्य है, जो भौतिक जीवन में सुख-समृद्धि की कामना से मुक्त नहीं है। अत: जैन आचार्यों के लिये यह आवश्यक हो गया कि वे अपने उपासकों की जैनधर्म में श्रद्धा बनाये रखने के लिये जैनधर्म के साथ कुछ ऐसे अनुष्ठानों को भी जोड़ें जो अपने उपासकों के भौतिक कल्याण में सहायक हो। निवृत्तिप्रधान, अध्यात्मवादी एवं कर्मसिद्धान्त में अटल विश्वास रखने वाले जैनधर्म के लिये यह न्यायसंगत तो नहीं था फिर भी यह एक ऐतिहासिक सत्य है कि उसमें यह प्रवृत्ति विकसित हुई है।

जैनधर्म का तीर्थङ्कर व्यक्ति के भौतिक कल्याण में साधक या बाधक नहीं हो सकता है, अत: जैन अनुष्ठानों में जिनपूजा के यक्ष-यक्षियों के रूप में शासनदेवता तथा देवी की कल्पना विकसित हुई और यह माना जाने लगा कि तीर्थङ्कर की अथवा अपनी उपासना से शासनदेवता (यक्ष-यक्षी) प्रसन्न होकर उपासक का कल्याण करते हैं। शासनरक्षक देवी-देवताओं के रूप में सरस्वती, लक्ष्मी, अम्बिका, पद्मावती, चक्रेश्वरी, काली आदि अनेक देवियों तथा मणिभद्र, घण्टाकर्ण महावीर, पार्श्वयक्ष आदि यक्षों, दिक्पालों एवं अनेक क्षेत्रपालों (भैरवों) को जैन-परम्परा में स्थान मिला। इन सबकी पूजा के लिये जैनों ने विभिन्न अनुष्ठानों को किंचित् परिवर्तन के साथ वैदिक परम्परा से ग्रहण कर लिया। भैरव पद्मावतीकल्प आदि ग्रन्थों से इसकी पुष्टि होती है। जैन-पूजा और प्रतिष्ठा की विधि में वैदिक परम्परा के अनेक ऐसे तत्त्व भी जुड़ गये जो जैन-परम्परा के मूलभूत मन्तव्यों से भिन्न हैं। हम यह देखते हैं कि जैन-परम्परा में चक्रेश्वरी, पद्मावती, अम्बिका, घण्टाकर्ण महावीर, नाकोड़ा भैरव, भोमियाजी, दिक्पाल, क्षेत्रपाल आदि की उपासना प्रमुख होती जा रही है। जैनधर्म में पूजा और उपासना का यह दूसरा पक्ष जो हमारे सामने आया, वह मूलत: वैदिक या ब्राह्मण-परम्परा का प्रभाव ही है। जिनपूजा एवं अनुष्ठान विधियों में अनेक ऐसे मन्त्र मिलते हैं, जिन्हें ब्राह्मण-परम्परा के तत्सम्बन्धी मन्त्रों का मात्र जैनीकरण कहा जा सकता है। उदाहरण के रूप में जिस प्रकार ब्राह्मण-परम्परा में इष्ट देवता की पूजा के समय

उसका *आह्वान और विसर्जन* किया जाता है, उसी प्रकार जैन-परम्परा में भी पूजा के समय जिन के आह्वान और विसर्जन के मन्त्र बोले जाते हैं। यथा —

ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र अवतर अवतर संवोषट्।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् अत्र मम सन्निहतो भवभव वषट्।
ॐ ह्रीं णमों सिद्धाणं सिद्धपरमेष्ठिन् स्वस्थानं गच्छ गच्छ जः जः जः।

ये मन्त्र जैनदर्शन की मूलभूत मान्यताओं के प्रतिकूल हैं। क्योंकि जहाँ ब्राह्मण-परम्परा का यह विश्वास है कि आह्वान करने पर देवता आते हैं और विसर्जन करने पर चले जाते हैं। वहाँ जैन-परम्परा में सिद्धावस्था को प्राप्त तीर्थङ्कर न तो आह्वान करने पर उपस्थित हो सकते हैं और न विसर्जन करने पर जा ही सकते हैं। पं० फूलचन्दजी ने "ज्ञानपीठ पूजांजलि" की भूमिका में विस्तार से इसकी चर्चा की है तथा आह्वान एवं विसर्जन सम्बन्धी जैन मन्त्रों की ब्राह्मण मन्त्रों से समानता भी दिखाई है। तुलना कीजिये —

आवाहनं नैव जानामि नैव जानामि पूजनम् ।
विसर्जनं न जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।। १ ।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं द्रव्यहीनं तथैव च ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देव रक्ष रक्ष जिनेश्वर ।। २ ।।

— विसर्जनपाठ

इसके स्थान में ब्राह्मणधर्म में ये श्लोक उलब्ध होते हैं —

आवाहनं न जानामि न जानामि विसर्जनम् ।
पूजनं नैव जानामि क्षमस्व परमेश्वर ।। १ ।।
मन्त्रहीनं क्रियाहीनं भक्तिहीनं जनार्दन ।
यत्पूजितं मया देव परिपूर्णं तदस्तु मे ।। २ ।।

इसी प्रकार पंचोपचारपूचा, अष्टद्रव्यपूजा, यज्ञ का विधान, विनायक-यन्त्र-स्थापना, यज्ञोपवीतधारण आदि भी जैन-परम्परा के अनुकूल नहीं हैं। किन्तु जब पौराणिक धर्म का प्रभाव बढ़ने लगा, तो पंचोपचारपूजा आदि विधियों का प्रवेश हुआ। दसवीं शती के अनन्तर इन विधियों को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ, जिससे पूर्व प्रचलित विधि गौण हो गयी। प्रतिमा के समक्ष रहने पर भी आह्वान, सन्निधिकरण, पूजन और विसर्जन क्रमशः पंचकल्याणकों की स्मृति के लिये व्यवहृत होने लगे। पूजा को वैयावृत्य का अंग माना जाने लगा तथा एक प्रकार से इसे 'आहारदान' के तुल्य महत्त्व प्राप्त हुआ। इस प्रकार पूजा के समय

सामायिक या ध्यान की मूल भावना में परिवर्तन हुआ और पूजा को अतिथि संविभाग व्रत का अंग मान लिया गया। यह सभी ब्राह्मण परम्परा की अनुकृति ही हैं, यद्यपि इस सम्बन्ध में बोले जाने वाले मन्त्रों को निश्चय ही जैन रूप दे दिया गया है। जिस परम्परा में एक वर्ग ऐसा हो जो तीर्थङ्कर के कवलाहार का भी निषेध करता हो वही तीर्थङ्कर की सेवा में नैवेद्य अर्पित करे यह क्या सिद्धान्त की विडम्बना नहीं कही जायेगी? जैन-परम्परा ने पूजा-विधान के अतिरिक्त संस्कार विधि में भी हिन्दू-परम्परा का अनुसरण किया है। सर्वप्रथम आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में हिन्दू संस्कारों को जैन दृष्टि से संशोधित करके जैनों के लिये भी एक पूरी संस्कार-विधि तैयार की है। सामान्यतया हिन्दुओं में जो सोलह संस्कारों की परम्परा है, उसमें निवृत्तिमूलक परम्परा की दृष्टि से दीक्षा (संन्यासग्रहण) आदि कुछ संस्कारों की वृद्धि करके यह संस्कार-विधि तैयार की गयी है। इसमें गर्भान्वय क्रिया, दीक्षान्वय क्रिया और क्रियान्वय क्रिया ऐसे तीन विभाग किये गए हैं। इनमें गर्भ से लेकर निर्वाण पर्यन्त क्रियाएँ बताई गई हैं। यह स्पष्ट है कि दिगम्बर परम्परा में जो संस्कार-विधि प्रचलित हुई वह बृहद् हिन्दू-परम्परा से प्रभावित है। श्वेताम्बर परम्परा में किसी संस्कार-विधि का उल्लेख नहीं मिलता है, किन्तु व्यवहार में वे भी हिन्दू-परम्परा में प्रचलित संस्कारों को यथावत् रूप में अपनाते हैं। उनमें आज भी विवाहादि संस्कार हिन्दू परम्परानुसार ही ब्राह्मण पण्डित के द्वारा सम्पन्न कराए जाते हैं। अत स्पष्ट है कि विवाहादि संस्कारों के सम्बन्ध में भी जैन परम्परा पर हिन्दू परम्परा का स्पष्ट प्रभाव है।

वस्तुत: मन्दिर एवं जिनबिम्ब-प्रतिष्ठा आदि से सम्बन्धित अधिकांश अनुष्ठान ब्राह्मण परम्परा की देन हैं और उसकी मूलभूत प्रकृति कहे जा सकते हैं। किसी भी परम्परा के लिये अपनी सहवर्ती परम्परा से पूर्णतया अप्रभावित रह पाना कठिन है और इसलिये यह स्वाभाविक ही था कि जैन-परम्परा की अनुष्ठान विधियों में ब्राह्मण परम्परा का प्रभाव आया।

हिन्दू वर्ण एवं जाति व्यवस्था का जैनधर्म पर प्रभाव

मूलत: श्रमण-परम्परा और जैनधर्म वर्ण-व्यवस्था के विरुद्ध खड़े हुए थे किन्तु कालक्रम में बृहत् हिन्दू-समाज के प्रभाव से उसमें भी वर्ण एवं जाति सम्बन्धी अवधारणाएँ प्रविष्ट हो गईं। जैन परम्परा में जाति और वर्ण-व्यवस्था के उद्भव एवं ऐतिहासिक विकास का विवरण सर्वप्रथम आचारांगनिर्युक्ति (लगभग ईस्वी सन् तीसरी शती) में प्राप्त होता है। उसके अनुसार प्रारम्भ में मनुष्य जाति एक ही थी। ऋषभ के द्वारा राज्य-व्यवस्था का प्रारम्भ होने पर उसके दो विभाग हो गये — १. शासक (स्वामी) एवं २. शासित (सेवक)। उसके पश्चात्

शिल्प और वाणिज्य के विकास के साथ उसके तीन विभाग हुए — १. क्षत्रिय (शासक), २. वैश्य (कृषक और व्यवसायी) और ३. शूद्र (सेवक)। उसके पश्चात् श्रावक-धर्म की स्थापना होने पर अहिंसक, सदाचारी और धर्मनिष्ठ व्यक्तियों को ब्राह्मण (माहण) कहा गया। इस प्रकार क्रमशः चार वर्ण अस्तित्व में आए। इन चार वर्णों के स्त्री-पुरुषों के समवर्णीय अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोगों से सोलह वर्ण बने, जिनमें सात वर्ण और नौ अन्तर वर्ण कहलाए। सात वर्ण में समवर्णीय स्त्री-पुरुष के संयोग से चार मूल वर्ण तथा ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्रिय स्त्री के संयोग से उत्पन्न, क्षत्रिय पुरुष एवं वैश्य स्त्री के संयोग से उत्पन्न और वैश्य पुरुष एवं शूद्र स्त्री के संयोग से उत्पन्न, ऐसे अनुलोम संयोग से उत्पन्न तीन वर्ण। आचारांगचूर्णि (ईसा की ७वीं शती) में इसे स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि "ब्राह्मण पुरुष एवं क्षत्राणी के संयोग से जो सन्तान उत्पन्न होती है वह उत्तम क्षत्रिय, शुद्ध क्षत्रिय या संकर क्षत्रिय कही जाती है, यह पाँचवाँ वर्ण है। इसी प्रकार क्षत्रिय पुरुष और वैश्य स्त्री से उत्पन्न सन्तान उत्तम वैश्य, शुद्ध वैश्य या संकर वैश्य कही जाती है, यह छठाँ वर्ण है तथा वैश्य पुरुष एवं शूद्र-स्त्री के संयोग से उत्पन्न सन्तान शुद्ध शूद्र या संकर शूद्र कही जाती है, यह सातवाँ वर्ण है। पुनः अनुलोम और प्रतिलोम सम्बन्धों के आधार पर निम्नलिखित नौ अन्तर-वर्ण बने — ब्राह्मण पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अम्बष्ठ' नामक आठवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय पुरुष और शूद्र स्त्री से 'उग्र' नामक नवाँ वर्ण हुआ, ब्राह्मण पुरुष और शूद्र स्त्री से 'निषाद' नामक दसवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, शूद्र पुरुष और वैश्य स्त्री से 'अयोग' नामक ग्यारहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, क्षत्रिय और ब्राह्मणी से 'सूत' नामक तेरहवाँ वर्ण हुआ, शूद्र पुरुष और क्षत्रिय स्त्री से 'क्षत्रा' (खत्रा) नामक चौदहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ, वैश्य पुरुष और ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'वेदेह' नामक पन्द्रहवाँ वर्ण उत्पन्न हुआ और शूद्र पुरुष तथा ब्राह्मण स्त्री के संयोग से 'चाण्डाल' नामक सोलहवाँ वर्ण हुआ। इसके पश्चात् इन सोलह वर्णों में परस्पर अनुलोम एवं प्रतिलोम संयोग से अनेक जातियाँ अस्तित्व में आयीं।"

उपरोक्त विवरण में हम यह देखते हैं कि जैन धर्म के आचार्यों ने भी काल-क्रम में जाति और वर्ण की उत्पत्ति के सन्दर्भ में हिन्दू-परम्परा की व्यवस्थाओं को अपने ढंग से संशोधित कर स्वीकार कर लिया। लगभग सातवीं सदी में दक्षिण भारत में हुए आचार्य जिनसेन ने लोकापवाद के भय से तथा जैन धर्म का अस्तित्व और सामाजिक सम्मान बनाये रखने के लिये हिन्दू वर्ण एवं जाति-व्यवस्था को इस प्रकार आत्मसात कर लिया कि इस सम्बन्ध में जैनों का जो वैशिष्ट्य था, वह प्रायः समाप्त हो गया। जिनसेन ने सर्वप्रथम यह बताया कि

आदि ब्रह्मा ऋषभदेव ने षट्कर्मों का उपदेश देने के पश्चात् तीन वर्णों (क्षत्रिय, वैश्य, और शूद्र) की सृष्टि की। इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि जो क्षत्रिय और वैश्य वर्ण की सेवा करते हैं वे शूद्र हैं। इनके दो भेद हैं — कारु और अकारु। पुन: कारु के भी दो भेद हैं — स्पृश्य और अस्पृश्य। धोबी, नापित आदि स्पृश्य शूद्र हैं और चाण्डाल आदि जो नगर के बाहर रहते हैं वे अस्पृश्य शूद्र हैं (आदिपुराण, १६/१८४-१८६)। शूद्रों के कारु और अकारु तथा स्पृश्य और अस्पृश्य ये भेद सर्वप्रथम केवल पुराणकाल में जिनसेन ने किये हैं। उनके पूर्ववर्ती अन्य किसी जैन आचार्य ने इस प्रकार के भेदों को मान्य नहीं किया है। किन्तु हिन्दू-समाज-व्यवस्था से प्रभावित होने के बाद के जैन आचार्यों ने इसे प्राय: मान्य किया। षट्प्राभृत के टीकाकार श्रुतसागर ने भी इस स्पृश्य-अस्पृश्य की चर्चा की है। यद्यपि पुराणकार ने शूद्रों को एकशाटकव्रत अर्थात क्षुल्लकदीक्षा का अधिकार मान्य किया था किन्तु बाद के दिगम्बर जैन आचार्यों ने उसमें भी कमी कर दी और शूद्र की मुनि-दीक्षा एवं जिनमन्दिर में प्रवेश का भी निषेध कर दिया। श्वेताम्बर परम्परा में स्थानांगसूत्र (३/२०२) के मूलपाठ में तो केवल रोगी, भयार्त और नपुंसक की मुनि-दीक्षा का निषेध था, किन्तु परवर्ती टीकाकारों ने चाण्डालादि जाति-जुंगित और व्याधादि कर्मजुंगति लोगों को दीक्षा देने का निषेध कर दिया। यद्यपि यह सब जैन-धर्म की मूल परम्परा के तो विरुद्ध ही था, फिर भी हिन्दू-परम्परा के प्रभाव से इसे मान्य कर लिया गया। स्थिति यहाँ तक पहुँची कि एक ही जैनधर्म के अनुयायी जातीय भेद के आधार पर दूसरी जाति का छुआ हुआ खाने में, उन्हें साथ बिठाकर भोजन करने में आपत्ति करने लगे। शूद्र का जल-त्याग एक आवश्यक कर्त्तव्य हो गया और शूद्रों का जिन-मन्दिर में प्रवेश निषिद्ध कर दिया गया।

इस प्रकार जहाँ प्राचीन स्तर में जैन चारों ही वर्णों और सभी जातियों के व्यक्ति जिन-पूजा करने, श्रावक धर्म एवं मुनिधर्म का पालन करने और साधना के सर्वोच्च लक्ष्य निर्वाण को प्राप्त करने के अधिकारी माने गये थे; वहीं सातवीं-आठवीं सदी में जिनसेन ने सर्वप्रथम शूद्र को मुनि-दीक्षा और मोक्ष-प्राप्ति हेतु अयोग्य माना। श्वेताम्बर आगमों में कहीं शूद्र की दीक्षा का निषेध नहीं है, स्थानांग में मात्र रोगी, भयार्त और नपुंसक की दीक्षा का निषेध है किन्तु आगे चलकर उनमें भी जाति-जुंगित जैसे — चाण्डाल आदि और कर्म-जुंगित जैसे — कसाई आदि की दीक्षा का निषेध कर दिया गया। किन्तु यह बृहत्तर हिन्दू-परम्परा का प्रभाव ही था जो कि जैनधर्म के मूल सिद्धान्त के विरुद्ध था। जैनों ने इसे केवल अपनी सामाजिक प्रतिष्ठा को बनाए रखने हेतु मान्य किया क्योंकि आगमों में

हरिकेशीबल, मेतार्य, मातंगमुनि आदि अनेक चाण्डालों के मुनि होने और मोक्ष प्राप्त करने के उल्लेख हैं।

सन्दर्भ

१. उत्तराध्ययन, २५/२७,२१.
२. धम्मपद, ४०१-४०३.
३. उत्तराध्ययन, १२/४४.
४. अंगुत्तरनिकाय, सुत्तनिपात उद्धृत भगवान् बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ० २६.
५. देखिये — भगवान बुद्ध (धर्मानन्द कौसाम्बी), पृ०, २३६-२३९.
६. गीता, ४/३३, २६-२८.
७. उत्तराध्ययन, १२/४६.
८. उत्तराध्ययन, ९/४०, देखिये — गीता (शा०) ४/२६-२७.
९. धम्मपद, १०६.
१०. सम्बोध प्रकरण, गुर्वाधिकार.

●